पूंजीवादी समाज में परिवार का स्वरूप

कुमार अम्बुज

हम जानते हैं कि जब समाज अपनी प्रारंभिक अवस्था में था तो परिवार की शुरुआती अवधारणाएँ और परिणतियाँ अपने मूल व्यवहार में तमाम आडंबरों से रहित थीं। उनमें खुलापन, आजादी और यायावरी थी। सामंती समाज तक आते-आते परिवार पितृसत्तात्मक हो गया और पुष्ट हो गए सामंती समाज ने ही उस बंद, कट्टर, सुरक्षित, रागात्मक परिवार की नींव डाली जिसकी चिंता आज की जा रही है। जाहिर है कि इस समाज के परिवार में एक पुरुष मुखिया (या सामंत) होता है और उसकी इस अवस्थिति को बनाए रखने में समाज, परंपरा, कानून और धार्मिक व्याख्याएँ शक्ति और सहायता प्रदान करती हैं। इस व्यवस्था में एक दास का होना आवश्यक है तभी परिवार का सामंती रूप पूर्ण हो सकता है। दासता के इस कार्यभार के लिए स्त्री को चुना गया। स्त्री को यह दासता गरिमापूर्ण लगे, इसके प्रति उसके मन में विद्रोह न हो इसलिए ममता, स्नेह, प्रेम, दायित्व, धर्म, कर्तव्य, शील आदि से उसे जोड़ा जाता रहा। लेकिन उसके नियम कभी भी स्त्री के लिए अनुकूल नहीं रहे। उसके लिए तो कैसे भी पति को प्रेम करना कर्तव्य और धर्म के अंतर्गत है। इस परिवार में स्त्री के शोषण के अनेक मान्य, प्रचलित और कठोर रूप रहे हैं।

स्त्री पर शासन आसान रहे, इसलिए ही विवाहों में उम्र और शिक्षा को ले कर एक बेमेल परंपरा कायम की गई है जिसके तहत स्त्री का आयु में पुरुष से कम और शिक्षा में कमतर होना ही उचित मान लिया गया है। यदि वह आयु और शिक्षा में पुरुष से बड़ी या बराबर हुई तो इस बात के असर ज्यादा हैं कि उसे आसानी से शासित न किया जा सके। यद्यपि घरेलू, सामाजिक, औपचारिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा में इस बात की गारंटी कर दी गई है कि स्त्री समाज की 'पहली इकाई' में प्रवेश करते ही किसी पुरुष का स्थायी उपनिवेश हो जाए। इसी तरह के संदर्भों में कहा जाता है कि स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है। इस 'सामंती परिवार' में पुरुष का जीवन सर्वाधिक आनंद में गुजरता है। गृहस्थी में उसकी जो मुश्किलें हैं वे एक नागरिक, मनुष्य और मुखिया की मुश्किलें तो हैं, लेकिन गुलाम या शासित की उन मुश्किलों से बिलकुल अलग हैं जो किसी मनुष्य की तमाम संभावना, प्रतिभा, स्वतंत्रता और चेतना को बाधित, कुंठित और प्रायः असंभव कर देती हैं।

इस तरह के परिवार में कुछ अन्य लक्षण सहज ही परिलक्षित होंगे, जो दरअसल सामंती व्यवस्था के सामाजिक-नागरिक लक्षणों से उत्पन्न हैं - जैसे स्त्री संपत्ति की तरह है और उसे अर्जित किया जा सकता है। उसे सुरक्षित करना जरूरी है अन्यथा घुसपैठ संभव है। वह पुरुष की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी इसी वजह से है। चूँकि वह चल-संपत्ति है, इसलिए उसे अपने पास बनाए रखने के लिए हिंसा भी जायज है। इस परिवार में हिंसा के तमाम रूपों की उपस्थिति सहज रहती आई है। करुणा, दया, प्रेम, कृतज्ञता, नैतिकता, धार्मिकता और अभिनय का इस्तेमाल भी होता रहा है। हर स्थिति में उसका अधिकार दोयम है, कर्तव्य प्राथमिक और अनिवार्य। पारिवारिक इकाई के इसी स्वरूप को तरह-तरह से विकसित, महिमामंडित और दृढ़ किया गया। अब इसकी रागात्मकता, सहजता, कार्यकुशलता और व्यवस्था खतरे में है।

यहाँ ध्यान देना होगा कि अब हमारा समाज राजनीतिक, औपचारिक शिक्षा, तकनीकी, न्यायिक, संवैधानिक और स्वप्नशीलता के क्षेत्रों में सामंती नहीं रह गया है, भले ही रूढ़ियों, परंपराओं, सामाजिक आचरणों, मान्यताओं, धार्मिक विश्वासों आदि में सामंतीपन का ही बोलबाला है। बल्कि इन्हीं वजहों से अभी तक परिवारों में सामंती परिवेश बना रह सका है। लेकिन धीरे-धीरे पूँजीवाद ने शासन और तंत्र के वर्चस्ववादी इलाकों में अपनी ध्वजा फहराई है। लोकतांत्रिक व्यवस्था उसके लिए सर्वाधिक सहायक हो सकती है। लोकतंत्र की आड़ ही उसे तानाशाह होने की सीधी बदनामी से रोकती है। लेकिन लोकतंत्र की उपस्थिति अपना काम करती है और परिवार में किसी एक की तानाशाही अथवा सामंती प्रवृत्ति के खिलाफ भी वातावरण बनाती है। जाहिर है कि यह पूँजीवादी, उत्तर-आधुनिक समाज भी अपने जैसा ही परिवार बनाएगा। जैसा समाज, वैसा परिवार। क्या हम भूल रहे हैं कि परिवार समाज की पहली इकाई है ! ऐसा हो ही नहीं सकता कि समाज पूँजीवादी होता जाए और परिवार का चरित्र सामंती बना रहे।

पूँजीवादी समाज में अर्थवाद, संबंधों की स्वार्थपरकता, मनुष्य से मनुष्य की हृदयहीनता, हर क्रिया में छिपा निवेश तत्व, प्रदर्शनकारिता, उपयोगितावाद, उपभोक्तावाद, बाजारवाद और आत्मकेंद्रिकता के लक्षण प्रमुख हैं। इन लक्षणों को सब रोज-रोज अनुभव कर ही रहे हैं। इन्हीं विलक्षणताओं के कारण पूँजीवाद में प्रेम, मनुष्यता, रागात्मकता आदि का ही नहीं, बल्कि तज्जन्य संगीत, कला, साहित्यस, अध्यवसाय का लोप होता जाता है। इन्हीं सब बिंदुओं को आप परिवार पर लागू करें तो पाएँगे कि आज के परिवार का संकट यही है। अर्थात वहाँ स्वार्थ, उपयोगितावाद, निवेश मनःस्थिति, आत्मकेंद्रिकता का प्रवेश हो गया है और जीवन की रागात्मकता, हार्दिकता, सामूहिकता, और संगीतात्मतकता गायब है। यह होना ही है। इसे प्रस्तुगत समाज व्यावस्थाम में रोका नहीं जा सकता।

अभी जो 'पुराने परिवार' के रूपक हैं और उदाहरणों की तरह टापू की तरह दिखते हैं वे सामंती अवशेष हैं। गाँवों और कस्बों के जीवन में सामंती रीतियाँ जाति, वंश, परिवार परंपरा, धार्मिकता के प्रभाव बाकी हैं, अतएव वहाँ इन परिवारों का ध्वंस अभी उतना नजर नहीं आता, लेकिन 'पूँजीवादी समाज से उद्भूत और प्रभावित परिवार' शहरों तथा महानगरों में आसानी से मिल जाएँगे। आगामी कुछ ही समय में ये 'पूँजीवादी समाज के परिवार' बड़ी संख्या में तबदील होते जाएँगे। विवाह के लिए औपचारिक संस्कार गौण होते जाएँगे और करार के विधिक, मौखिक या सहमति के अन्य प्रकार स्वीकार्य होंगे। यह पूँजीवाद के चरित्र का ही हिस्सा है। इसी के चलते संभव है कि परिवार 'आजीवन संस्था' न रह कर 'अल्पकालीन या आवश्यकतानुसार अनुबंध' तक सीमित होती चली जाए।

यहाँ एक बात गौर करने लायक है। पूँजीवादी समाज की निर्मिति से बन रहे इन परिवारों में स्त्री का पारिवारिक शोषण तो रुक जाएगा लेकिन मनुष्य की अस्मिता, गरिमा, स्वतंत्रता और उड़ान से वे काफी हद तक वंचित ही रहेंगी, क्योंकि पूँजीवाद स्त्री को 'उपयोगी' और 'उपभोक्तावादी' वस्तु में ही न्यून करता है। वह स्वतंत्र तो होगी, लेकिन फिलहाल नियामक या निर्णायक नहीं। उसका 'स्त्री' होना उसके लिए नई मुश्किलें और कुछ तात्कालिक आसानियाँ पेश करेगा। पूँजीवादी व्वस्थाएँ और उसके गण उसका तदानुसार उपयोग करेंगे। यह आजादी विडंबनामूलक समस्या है। वह सामंती पिंजरे से निकल कर एक अथाह समुद्र में गिरेगी। यही कारण है कि अधिकांश लोगों को परिवार का सामंती रूप अधिक सुरक्षित और विकल्पहीन लगता है। इन परिवारों के विघटन और विनाश से पुरुषों का डर तो स्वाभाविक है क्योंकि उनका साम्राज्य इससे नष्ट होता है, किंतु स्त्रियों का डर अपने नरक से प्रेम करने और उसके पालन-पोषण के तरीकों में छिपा हुआ है। प्रसन्न इस बात पर तो हुआ ही जा सकता है कि स्त्री सामंती परिवार के कारागार से बाहर निकल पाएगी एवं नितांत नई समस्याओं के बीच स्वतंत्रचेता और स्वावलंबी होने के लिए विवश होगी। बहरहाल, यह संक्रमणकाल है और इसके बाद कुछ राहें निकलेंगी।

यह उम्मीद करना बेमानी और काल्पनिक नहीं है कि पूँजीवादी समाज अंततः उस मानवीय, समतावादी और सामाजिक न्यायपूर्ण व्यवस्था से प्रतिस्थापित हो सकता है, जिसे 'साम्यवादी व्यवस्था' के स्वप्न में देखा जाता है। इस आकांक्षी व्यवस्था में ऐसे परिवार की कल्पना की जा सकती है जो अपने गठन, निर्माण और परिचालन में कहीं अधिक लोकतांत्रिक, समतावादी, रागात्मक और प्रेम भरा होगा, जिसमें स्त्री को मनुष्य का गरिमापूर्ण दर्जा मिलेगा और बच्चों के पालन-पोषण में अत्याचार, क्रूरता और इजारेदारी का हिस्सा खतम हो जाएगा। मार्क्स -एंगेल्स आज से 155 वर्ष पहले लिखे 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में यदि 'बुर्जुआ सामंती परिवार' के संकटों का जिक्र करते हुए उसे खारिज करना चाहते हैं तो वह कोई अराजक प्रस्ताव नहीं है। अब ऐसी परिवार व्यवस्था मुश्किल में आ रही है तो यह सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का हिस्सा है, भले ही अभी यह हमारी श्रेष्ठ मानवीय आकांक्षाओं के अनुकूल नहीं है मगर यह अपनी प्रकृति में ऐतिहासिक और द्वंद्वात्मक है।

श्रम

70 दिन बंद रही थी गुडईयर फ़ैक्ट्री

सतीश कुमार

एक सस्पेंड श्रमिक के रात की पारी में गुडइयर फ़ैक्ट्री में घुस आने और फ़िर बाहर न निकलने को लेकर उत्पन्न हुए विवाद में 70 दिन फ़ैक्ट्री बंद रही। रात को जब श्रमिको ने टूल-डाउन कर दिया तो आने वाली सभी शिफ़्टों ने भी उसे जारी रखा। श्रमिक फ़ैक्ट्री में आते व सारा समय बैठ कर वापस चले जाते। समझने-समझाने का कोई परिणाम न निकलते देख कर मैनेजमेंट ने तालाबंदी घोषित कर दी, यानी आने वाली शिफ़्ट को भीतर नहीं घुसने दिया गया और भीतर मौजूद शिफ़्ट को बाहर जाने दिया।

गेट पर तम्बू गड़ गया। गेट मीटिंगों के अलावा नुक्कड़ मीटिंगों का सिलसिला शुरू हो गया। श्रम विभाग, ज़िला प्रशासन व पुलिस जो पहले से ही काफ़ी सक्रिय थी अब और भी अधिक सक्रिय एवं मुस्तैद हो गयी। यद्यपि किसी प्रकार की हिंसा की कोई आशंका नहीं थी, फ़िर भी भारी पुलिस बल गेट पर तैनात था, इनके रहने-खाने की व्यवस्था कम्पनी गेट के भीतर बने रेस्ट हाउस में कर छोड़ी थी। स्थानीय पुलिस की सहायता के लिये बाहर से भी पुलिस बुला ली गयी थी। इनका नेतृत्व एवं नियंत्रण करने के लिये ज़िला मुख्यालय से अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक दीवान सुन्दर दास को तैनात कर दिया गया था।

प्रशासन को हिंसा की आशंका इसलिये थी कि कम्पनी अपने समर्थकों द्वारा श्रमिकों को फूट डलवा यूनियन के मुकाबले में खड़ा करके हालात खराब न कर दे। फूट तो डली, वाद-विवाद भी हुए लेकिन हिंसा नहीं हुई। कम्पनी की बात मानकर फ़ैक्ट्री चलाने या यूनियन की बात मान कर चलाने को लेकर जनमत संग्रह कराने का फ़ैसला भी श्रमिकों ने लिया। इसके लिये बल्लबगढ के नाहर सिंह पार्क में तमाम श्रमिकों को बुलाया गया। भारी संख्या में शायद 70-80 प्रतिशत श्रमिक इसके लिये आये। दोनों पक्षों के तर्क-वितर्क एवं वाद-विवाद के बाद निर्णय जानने के लिये कहा गया तो 60-70 प्रतिशत श्रमिक यूनियन के साथ तथा शेष दूसरे पक्ष, जिसे मैनेजमेंट समर्थक कहा गया, के साथ खड़े हो गये।

ऐसे मौकों पर अक्सर लड़ाई-झगड़े व मार-पीट से बढ़ कर काफ़ी हिंसक वारदातें हो जाया करती हैं। इसी आशंका के मद्देनज़र पार्क के आस-पास भारी पुलिस बल तैनात रहा; लेकिन वहां कोई झगड़ा फ़साद नहीं हुआ और शान्तिपूर्वक ढंग से भारी बहुमत ने फ़ैसला लिया कि जब तक सस्पेंड श्रमिक को बहाल नहीं किया जायेगा फ़ैक्ट्री नहीं चलेगी। यद्यपि पहले दिन से ही, एक छोटी सी बात को लेकर, हड़ताल का निर्णय ग़लत था लेकिन मैनेजमेंट व पुरानी यूनियन के जुए तले से निकले श्रमिक इतने जोश में थे कि उन्हें अपनी ज़िद के सिवाय कुछ दिख ही नहीं रहा था।

इस बीच कम्पनी ने एक-एक करके 11 श्रमिक नेताओं को फ़ायर कर दिया जबकि मैं तो पहले से ही फ़ायर था। समझौता वार्ता के दौर तत्कालीन ज़िला उपायुक्त नसीम अहमद से लेकर श्रम आयुक्त जी माधवन और श्रम मंत्री भजन लाल तक चले। इनमें गर्मा-गर्मी के साथ सरकारी सख्ती की धमकियां भी होती थी। इसके बावजूद कोई बात नहीं बनी। गेट पर भूख हड़ताल का दौर भी चला। रात-दिन गेट पर मेला सा लगा रहने लगा।

करीब दो माह बाद असली समस्या आई वेतन न मिलने से। वेतन के सहारे जिस श्रमिक का घर चलता हो और उसे महीनों तक वह न मिले तो उसका न चाहते हुए भी टूटना जरूरी है; लिहाज़ा मज़दूर टूटा। प्रबन्धन एवं पुरानी यूनियन के सहयोग से कुछ श्रमिकों ने काम पर जाने का निर्णय ले लिया। योजनानुसार फ़ैक्ट्री के गेट खोल दिये गये व दर्जनों साइकिल सवार श्रमिक बिना रुके गेट में तेज़ी से घुसते चले गये। मेरे पक्षधर, जो काफ़ी बड़े बहुमत में थे, ने उन्हें रोकने की पेशकश की लेकिन मैंने झगड़े, पुलिस मदाखलत व श्रमिकों की मजबूरी को समझते हुए कहा कि दो भागों में बंटने

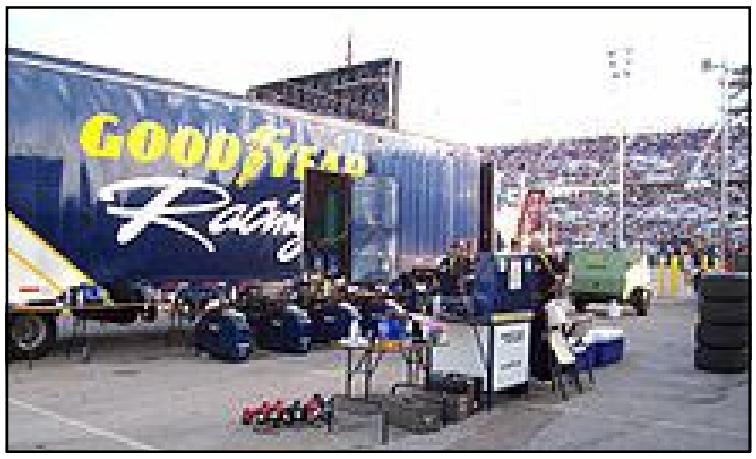

की बजाये सभी अन्दर काम पर जायें। इस तरह करीब 70 दिन की तालाबंदी समाप्त हुई।

अब दूसरा दौर शुरू हुआ, इस दौरान फ़ायर किये गये 11 मज़दूरों व झगड़े की जड़ सस्पेंड श्रमिक की बहाली का। इसके साथ-साथ बीते दिनों के वेतन का भी। वेतन के बारे में तो बड़ा साफ़ निर्णय था कम्पनी की ओर से 'कि काम नहीं तो वेतन नहीं'। हां जिस दिन फैक्ट्री बंद हुई थी यानी 19 जनवरी तक का कमाया हुआ वेतन तथा कुछ एडवांस दे दिया गया। सस्पेंड श्रमिक का तो मसला ही कुछ नहीं था जो कि एक छोटी सी घरेलू जांच में निर्दोष पाया जाकर बहाल हो गया।

अब रह गये वे 11 श्रमिक नेता जिन पर कम्पनी ने काम बंद कराने का आरोप लगा कर फ़ायर कर दिया था। अब कम्पनी क्योंकि मजबूत स्थिति में और यूनियन कमज़ोर स्थिति में आ चुकी थी, लिहाज़ा कम्पनी ने कड़ा स्टैंड ले लिया। बड़ी अजीब स्थिति बन गयी थी कि जिस सस्पेंड श्रमिक के लिये सारा झमेला हुआ वह तो काम पर लग गया, करीब 1900 श्रमिकों ने 70 दिन के वेतन से हाथ धो लिये थे और 11 श्रमिक बाहर बैठ गये वो अलग से। पुनः संघर्ष की धमकी व अन्य कई तरीकों से कम्पनी पर दबाव बनाने पर कम्पनी 11 में से 8 को बहाल करने पर राज़ी हो गयी। मैं चाहता था कि या तो सारे बहाल हों या सारे मिल कर यूनियन के दम पर संघर्ष का रास्ता पकड़ें। मेरी तरह लड़ कर भी बहाली प्राप्त की जा सकती थी। परन्तु 11 में से 11 मुझ से सहमत नहीं थे वे किन्ही तीन को छोड़ कर काम पर जाने को अति व्याकुल थे। दरअसल इसके पीछे की असल कहानी यह थी कि सभी 11 श्रमिक नेता अपने-अपने स्तर पर मैनेजमेंट से तार जोड़े हुए थे और सभी अपने आपको भीतर जाने वाले 8 जनों में गिने बैठे थे, कोई भी अपने को बाहर होने वाले 3 जनों में नहीं गिन रहा था। मेरे लिये बड़ी विकट स्थिति थी क्योंकि मैं जानता था कि इन तमाम 11 के विरुद्ध मैनेजमेंट कुछ साबित करने की स्थिति में नहीं थी और देर-सबेर कानूनी लड़ाई लड़ कर भी ये जीत सकते थे।

मजबूरन मैंने अपना आखरी पत्ता फ़ेंकते हुए मैनेजमेंट से कहा कि चलो आप 8 को ले लो बाकी 3 का केस लड़ लेंगे। उनका जवाब था, 'क्या हम इतने बेवकूफ़ नज़र आते हैं कि 8 को समझौते से और 3 को कोर्ट के माध्यम से ले लें' जाहिर है, मैं असफ़ल रहा अपनी चाल में और तमाम 11 श्रमिकों के दबाव में पक्का त्रिपक्षिय (औद्योगिक विवाद अधिनियम की धारा 12.3 के तहत) समझौता करना पड़ा।

समझौते के तुरन्त बाद कम्पनी ने अपने पत्ते खोलते हुए उन 3 श्रमिकों को बाहर कर दिया जो अपने आप को भीतर जाने वालों में समझ रहे थे। उनका तो हिसाब हो गया और नज़ला मुझ पर कि मैंने मिलीभगत करके उन्हें बाहर करा दिया।

(सम्पादक मज़दूर मोर्चा)

कविता/किसान कमेटी

डा. रामवीर

अगर यही होता है न्याय तो फिर क्या होता है अन्याय?

माननीय न्यायाधीशों से हाथ जोड कर है ये प्रार्थना,
कृपया न्याय के नाम से खुद ही करें न अपनी ही अवमानना ।

जो कुछ उस दिन हुआ कोर्ट में कौन कहेगा उस को न्याय,
अगर यही होता है न्याय तो फिर क्या होता है अन्याय ?

पहले तो कटुतम शब्दों में आप ने सत्ता को फटकारा,
लगा कि जैसे काले बिलों को कोर्ट ने ही कर दिया नकारा ।

और पुनः फिर रात रात में ऐसा क्या हो गया घटित,
कृषक विरोधी चार जनों की कर दी कमेटी सहसा गठित ।

पहले जिन को था फटकारा बाद में उन को ही पुचकारा,
'यतो धर्मस्ततो जयः' का खुद ही झूठा कर दिया नारा ।

कोई और मारे तो हत्या खुद ही मरे तो वह आत्महत्या,
अब तो किसानों की ही भांति कोर्ट भी करने लगे आत्महत्या ।

हरियाणवी परिहास

म्हारे गांव में नम्बरदार ने खटरू लाल की दो बीघा जमीन कब्ज़ा ली।
खटरू लाल ने सरपंच आगे शिकायत ला दी।
फेर के था।
सरपंच ने इस मामले ने सुलझाड़ खातर इन 4 लोगों की कमेटी बना दी -
1. नम्बरदार की बहू 2. नम्बरदार का छोरा
3. नम्बरदार का जीजा 4. नम्बरदार की साली
हरियाणे के सरपंच सुप्रीम फोरट के थोबडे से कम हैं के...